दक्षिण भारत में देवदासी व्यवस्थाः ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ- ऋतेष भारद्वाज

सारांश

प्रस्तुत लेख में दक्षिण भारत में देवदासी व्यवस्था का ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। देवदासी प्रथा को विशेष रूप से धार्मिक वेश्यावृत्ति कहा जा सकता है। इस प्रथा में सबसे दुखद यह था कि इसे धार्मिक स्थलों के संरक्षण में संचालित किया गया। विश्व के दूसरे भाग को इसकी जानकारी तो बहुत दूर की बात है, हमारे देश के ही अधिकतर नागरिकों एवं धर्मावलंबियों को इसकी जानकारी तक नहीं है। पुरुषों की औरतों के साथ इस प्रकार की कामुक संलग्नता, जो भारतवर्ष के बहुत से मंदिरों के पत्थरों पर चिन्हित है पुरुषों की अनैतिकता एवं महिलाओं के प्रति उनके व्यवहार और कामवासना की प्रवृत्ति को ही दर्शाता है। आज देवदासी संस्था के माध्यम से वर्तमान में औरतों के शोषण ने जातीय चरित्र अख्तियार कर लिया है और देवदासी की संतान को ही श्हरिजनश् कहा जाता था। देवदासी प्रथा आजकल विशेष रूप से आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और उड़ीसा में देखने को मिलती है। प्रस्तुत लेख में भारत में देवदासी प्रथा को दक्षिण भारत के संदर्भ में एक ऐतिहासिकद्दविश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। दक्षिण भारत में मौजूद विभिन्न परंपराओं, उत्तर और दक्षिण भारत के बीच देवदासी प्रथा के मध्य अंतर, और अलग-अलग जगहों पर इस देवदासी प्रथा के अन्य रूपों में प्रचलन का विश्लेषण शोध लेख में किया गया है।

यंग इंडिया (6 अक्टूबर, 1927) में महात्मा गांधी ने लिखा था कि फ्हमें खेद है कि हमारे बीच देश में अनेक ऐसे मंदिर हैं जिनकी स्थिति वेश्यालयों से बेहतर नहीं है।य् महात्मा गांधी जब देश में व्याप्त इस बुराई के विरुद्ध लोगों को जागृत कर रहे थे तब मद्रास राज्य के सीमाक्षेत्र में देवदासियों की संख्या लगभग दो लाख थी। इस महान राष्ट्र के मंदिरों में दो लाख अभिशप्त औरतों की कल्पना करना अपने आप में भयावह है। लेकिन आश्चर्य यह है कि आज भी कुछ लोग देवदासी प्रथा को 'गौरवशाली परम्परा' के रूप में मानते हैं। मंदिरों के अधीन यह परम्परा शायद इसी कारण से पुष्पित एवं पल्लवित हुई क्योंकि यह धनाढ्य सामन्तों एवं महाजनों की इच्छा के अनुकूल थी तथा जिसे पुजारियों का आशीर्वाद एवं सक्रिय सहयोग प्राप्त रहा है। यह मानवता के इतिहास की संभवतः सर्वाधिक पुरानी शारीरिक शोषण की प्रथा रही है। इस प्रथा की शिकार असहाय औरतें रही हैं और इनकी जुबान बन्द कर दी जाती है। इस कुप्रथा को स्वैच्छिक अथवा गौरवशाली कहना, वास्तव में घृणित एवं साजिश भरा है।

देवदासी-प्रथा को विशुद्ध रूप से धार्मिक वेश्यावृत्ति कहा जा सकता है। इसमें दुःखद यह रहा कि इसे मंदिर के पुजारियों का सहयोग एवं संरक्षण प्राप्त रहा है तथा इसे देवी-देवताओं के नाम पर किया जाता रहा है। शायद विश्व के

दूसरे भूभाग को इसकी जानकारी तो दूर की बात है हमारे देश के अधिकतर निवासियों एवं धर्मावलंबियों को इसकी जानकारी तक नहीं है। पुरुषों की औरतों के साथ इस प्रकार की कामुक संलग्नता, जो वर्षों से पत्थरों पर चिह्नित है - पुरुषों की अनैतिकता एवं औरतों के प्रति उनके व्यवहार एवं कामवासना की प्रवृत्ति को ही दर्शाता है। बिहार के वैशाली जिलान्तर्गत हाजीपुर में बूढ़ी गंडक के कोन्हारा घाट पर एक मंदिर स्थित है, जिसे लोग 'नेपाली मन्दिर' के नाम से जानते हैं। वहाँ काठ की एक पटरी पर रति-क्रिया की विभिन्न आकृतियाँ खोदी गई हैं। वहाँ के पुजारी गर्व के साथ बताते हैं कि फ्प्राचीन भारत के कोकशास्त्र में वर्णित सभी रति-क्रियाएँ इस काठ की पटरी पर अंकित हैं।य् भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर एवं राजा-रानी मंदिर में भी पुरुष एवं नारी की रति-क्रिया में लिप्त मूर्तियाँ दीवारों पर तराशी गई हैं। पूजा के इस पवित्र स्थल के किसी भी कोने को वेश्यालय की तस्वीरों से, जिसमें नारी का शोषण एवं उसकी दासता दिखाई गई है, वंचित रखने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई। इसका मुख्य कारण यही है कि मंदिर के पुजारी एवं उसके आसपास के धनी लोगों के समूह ने मंदिर की सेवा के नाम पर इन असहाय औरतों का सुनियोजित शोषण किया है एवं इस कुप्रथा को आज भी गुप्त रूप से जारी रखा है।

जे- ए- डुबॉय ने जिन्होंने 1792 से 1823 के बीच करीब तीस वर्षों तक भारत-भ्रमण किया था देवदासी प्रथा का बड़ा ही सटीक वर्णन किया है। अपने संस्मरण में उन्होंने लिखा है कि वास्तव में मंदिरों में संलग्न नृत्यांगनाएँ मुख्य रूप से ब्राह्मण पुजारियों के उपभोग की वस्तुएँ थीं जो 'वेश्यादर्शनम् पुण्यं पाप नाशनम्' जैसे निकृष्ट श्लोकों का पाठ करते थे, जिसका अर्थ होता है 'वेश्या के साथ समागम पुण्य कर्म है, जो पाप का नाश करता है। स्पष्टरूपेण उनकी निगाह में वेश्या एवं अन्य औरतों में कोई अन्तर नहीं है। मात्र नारी होना ही उनके लालच का शिकार होने के लिए यथेष्ट था और इसके लिए मंदिर उनके आर्थिक लाभ के साथ-साथ झूठी तार्किकता हेतु सर्वाधिक संरक्षित एवं सुरक्षित स्थल थे।

आज लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मंदिरों के अन्दर समागम के कई लाभ थे। सर्वप्रथम यह कि उन्हें धार्मिक अनुष्ठान के लौह-कवच की सुरक्षा प्रदान करता था। दूसरे, पुजारियों के विरुद्ध लम्पटता एवं भ्रष्ट आचरण का आरोप भी सरलता से नहीं लग सकता था। जो औरतें इन गिद्धों की शिकार होती थीं, उनकी जुबान यह कहकर बन्द कर दी जाती थीं कि ये सारे कर्म (शुभ) भगवान की कृपा से भगवान को प्रसन्न करने के लिए किए जा रहे हैं। यह इस स्थिति को स्पष्ट करता है कि हिन्दू समाज में मंदिर ही इस निकृष्ट कुकर्म (आर्थिक तथा नैतिक) के केन्द्र क्यों थे?

पुराने अभिलेखों से इस सत्य की सम्पुष्टि होती है कि भगवान जगन्नाथ के नाम पर पुरी मंदिर के पुजारी मंदिर के अन्दर इन औरतों का यौन-शोषण करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस के पर्यटक बर्नियर ने इस तथ्य का उल्लेख किया है 'ब्राह्मणों ने घोर अंधविश्वास को उत्प्रेरित कर धनार्जन किया।' मंदिर-प्रबन्धन में इन औरतों का स्थान बहुत नीचा नहीं था। प्रतिष्ठा सीढ़ी में इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान रहता था। नृत्यांगनाओं का मंदिर में दूसरा स्थान रहता था। देवदासी-प्रथा की शुरुआत पर प्रकाश डालते हुए जे- ए- डुबॉय का मत है फ्वास्तव में अपनी

जीविका के लिए उन्हें अपने को प्रत्येक वैसे व्यक्ति को समर्पित करना पड़ता था जो कीमत चुकाने को तैयार था। प्रत्येक मंदिर की सेवा में आठ, दस, बारह या इससे भी अधिक संख्या में देवदासियाँ रहती थीं। उनका प्राधिकृत कर्तव्य हर रोज दिन में दो बार प्रातः एवं संध्या बेला में एवं कभी-कभार आम उत्सव में नाच-गाना करना होता था, पर उनका गाना सदैव निकृष्ट कोटि का रहता था, जिसमें उनके भगवान के अनैतिक कार्यों का ही वर्णन रहता था। उनका यह निर्धारित कर्तव्य धार्मिक उत्सवों तक ही सीमित नहीं था। सामान्य नम्रता (और यह हिन्दू नैतिकता की खूबी है) के अनुरूप जब कोई विशिष्ट व्यक्ति एक-दूसरे से मिलते थे तो उनके साथ इन वेश्याओं का एक जत्था रहता था। उनमें से कुछ को अपने अतिथि के हवाले करना सौजन्यता समझी जाती थी।

मंदरों की सेवा में हिन्दुओं की विभिन्न श्रेणी की औरतें होती थीं। इनमें से कुछ कुलीन एवं प्रतिष्ठित घराने से आती थीं। सुरक्षित प्रजनन के लिए पति की सहमति से यह मनौती मान लेना कि गर्भ का शिशु जन्म के बाद, यदि बच्ची हुई तो मंदिर के सुपुर्द कर दिया जाएगा, कोई असामान्य बात नहीं थी। यह बात उनकी सोच से परे थी कि उनका यह कृत्य मान्यताओं के विपरीत ही नहीं था, वरन् मातृत्व के विपरीत भी था। मगर वास्तविकता यही थी कि किसी भी माता-पिता को पुत्री द्वारा इस कर्म के अख्तियार करने से कोई ग्लानि नहीं होती थी।' आचार्य चतुरसेन ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास सोमनाथ में इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि 'चालुक्य राजा ने अपनी पुत्री को विख्यात सोमनाथ के मंदिर में देवदासी के रूप में समर्पित किया था।'

बचपन में ही लड़कियों को इस रोजगार को स्वीकार करने की सीख दी जाती थी। उनकी बुद्धि में इस तथ्य को घुसाया जाता था कि यह अपने आप में एक सत्कर्म है। अबोध बालिकाओं को इस प्रकार की शिक्षा देने में नैतिकता के बिन्दु पर किसी प्रकार का संदेह अथवा संकोच नहीं होता था। लड़कियाँ इसे दुष्कर्म नहीं मानती थीं। बम्बई सोशल सर्विस लीग के प्रवक्ता पी-जी- नाइक के अनुसार - फ्बचपन में ही लड़की को वेश्यावृत्ति अपनाने की शिक्षा दी जाती है। इतनी ही बात नहीं है कि उसे बार-बार सिखाया जाता है कि यह कुकर्म धार्मिक कृत्य है, अतः शादी मत करना - वरन् उसके आसपास ऐसा वातावरण भी तैयार किया जाता था कि वह विवाह एवं वैवाहिक जीवन से घृणा करने लगती थीं।

यहाँ एक गंभीर बहस का मुद्दा बनता है कि कितने हिन्दू धार्मिक इच्छा से इन मंदिरों में जाते थे और कितने अपनी कामवासना की तृप्ति हेतु इन पवित्र बाजारों में जाते थे। सन् 1871 में बालासोर (उड़ीसा, जो उस समय बंगाल का ही हिस्सा था) के समाहर्त्ता जॉन बीम्स ने उड़ीसा के आयुक्त श्री रेवेनशा को अपने जिले में प्रचलित अवैधानिक कर के बारे में एक रिपोर्ट दी थी, जिसके अनुसार-

ख जाजपुर में स्नान पर्व के अवसर पर जमींदार 'वारुणी स्नान' नामक टैक्स वसूलते थे।

ख पुरी तीर्थाटन पर जाने के लिए जमींदार 'पुरुषोत्तम खर्च' के नाम पर कर वसूलते थे।

ख जमींदार जब पुरी से लौटते थे तो अपने साथ लाए हुए महाप्रसाद को रैयतों के बीच बाँटते थे। प्रसाद-प्राप्ति की एवज में रैयतों को कर चुकाना पड़ता था। इसे 'हाथ भरा महाप्रसाद' कहा जाता था।

जमींदारों के द्वारा मंदिरों में कामवासना की तृप्ति पर किए गए खर्च का वहन निरीह रैयतों को करना पड़ता था और इसे 'धार्मिक कर' कहा जाता था। आततायी जमींदारों की जमात इन्हें वसूलने के लिए भयंकर यातनाएँ भी देती थी। इस प्रथा का वर्णन इतिहास के पन्नों में भी अंकित है। रामकृष्ण मिशन के लोकप्रिय प्रकाशन 'द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया' में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि चोल राजा राजराज के शासनकाल में तंजौर के विख्यात मन्दिर में 400 देवदासियाँ थीं। पूर्वी बंगाल के राजा हरिवर्तमन के मंत्री भट्ट भवदेव ने अनन्त वासुदेव के मन्दिर में सेवा के लिए 100 नृत्यांगनाओं को प्रदान किया था। विजयसेन के शासनकाल में राजशाही जिले के देवपाड़ा के शिव मंदिर में भी करीब इतनी ही संख्या में नृत्यांगनाएँ थीं। कालिंजर के नीलकंठेश्वर के मंदिर में, मदन वर्मा के शासनकाल में पद्मावती नाम की नृत्यांगना मंदिर की प्रमुख देवीदासी थी।

इटालियन पर्यटक मार्कोपोलो ने भी इस सत्य का उल्लेख किया है कि माता-पिता कभी-कभी अपनी अविवाहिता पुत्रियों को उन देवताओं के मंदिरों में, जिनमें उनकी अपार श्रद्धा-भक्ति रहती थी, पर्व एवं समारोहों में नाचने-गाने एवं सेवा करने के लिए भेजते थे। जब तक उनकी शादी नहीं हो जाती थी, वे उन्हीं मंदिरों में रहती थीं। पवित्र मंदरों के अभिभावकों के द्वारा देव सेवा के नाम पर अपनाए गए हथकंडों एवं तरीकों का बड़ा ही सटीक वर्णन प्रो- गिलबर्ट स्लेटर ने किया है। वे उस समय मद्रास विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के व्याख्याता थे और उन्हें मद्रास में निम्न कुल में निम्न जन्मदर के कारणों का पता लगाने का भार सौंपा गया था। उनके अनुसार - अपने स्वभावानुसार वे कुँआरी कन्याओं की ही माँग करते थे। देवदासी की हैसियत से भगवान की सेवा करने के लिए इन कम उम्र की कन्याओं को अजीब तरीकों से शिक्षित किया जाता था। दक्षिण भारत में उन शहरों को ही अधिक पवित्र माना जाता था, जहाँ पर गुप्त रोगों से पीड़ित रोगियों की संख्या अधिक रहती थी। सन् 1917 में मुझे मद्रास की सराकर के द्वारा कुम्भकोनम शहर के आँकड़ों की जानकारी देने का निर्देश दिया गया। मैंने पाया कि गत् कई वर्षों से जन्मदर प्रति हजार तीस के आस-पास ही रही है और सचिवालय को विश्वास था कि जन्म का निबंधन नहीं करना ही न्यून जन्मदर के लिए जवाबदेह कारण है। नगरपालिका ने इसे अस्वीकार किया और समाहर्त्ता ने यथोचित जाँचोपरान्त इसे सही पाया। नगरपालिका कार्यालय में जाकर जब वहाँ के कर्मचारियों से इसका कारण पूछा तो उन्होंने तुरन्त कहा - 'यहाँ पर बारह बड़े-बड़े मंदिर हैं और प्रत्येक में देवदासियाँ हैं। अस्पतालों में मैंने पाया कि भर्ती मरीजों में आधी संख्या में सिफलिस एवं गनोरिया के गम्भीर मरीज हैं जबकि सामान्य मरीजों का इलाज आयुर्वेद के चिकित्सक करते हैं। एक युवा ब्राह्मण ने कहा कि पाँच में चार ब्राह्मण महिलाएँ इस रोग से ग्रसित हैं।'

बंगाल इस मंदिर-दुर्गुण से मुक्त था। सोचने की बात है, क्यों और कैसे? यह जानकारी रुचिकर होगी कि जिन प्रान्तों में देवदासी-प्रथा प्रचलित थी, वहाँ बहुविवाह की परिपाटी नहीं थी। बंगाल देवदासी-प्रथा से तो मुक्त था, पर

वहाँ बहुविवाह की प्रथा गंभीर रूप से विद्यमान थी। इस सत्य की अभिव्यक्ति में कोई संकोच नहीं को सका है कि अन्य राज्यों में जो अनिष्ट देवदासी-प्रथा ने किया, वही अनिष्ट बहुविवाह प्रथा ने बंगाल में किया। वास्तविकता तो यही है कि अन्य प्रान्तों के लोगों ने मंदिरों को वेश्यालय के रूप में परिणत किया और घर को प्रदूषण मुक्त रखा, वहीं पर बंगाल में कुलीन लोगों ने बहुविवाह के माध्यम से घर को वेश्यालय में परिवर्तित कर दिया और मंदिरों को इससे मुक्त रखा। देवदासी एवं कुलीनवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अपने गौरवशाली दिनों में कुलीनवाद असंख्य विवाह करने का लाइसेंस प्रदान करता था। हिन्दुओं में बहुविवाह की प्रथा पर प्रतिबंध लगाने के उद्देश्य से बंगाल की सरकार ने सन् 1867 में एक कमेटी का गठन किया था, जिसके अनुसार -

ख 'भग-कुलीनों के लिए बहुविवाद जीवनयापन का एकमात्र साधन था।'

ख 'ज्यादातर विवाह बुढ़ापे में होते थे और पति अपनी पत्नी को कभी नहीं देख पाता था या देखता भी था तो तीन-चार वर्षों या उससे अधिक की अवधि के अंतराल पर एक बार।'

ख '3 से 4 और कभी-कभी एक दिन में 23 विवाह भी होते थे।'

ख 'कभी-कभी किसी व्यक्ति की सभी पुत्रियों तथा अविवाहित बहनों की शादी भी एक ही व्यक्ति से कर दी जाती थी।'

इस कमेटी में बंगाली एवं अंग्रेज दोनों समूह के लोग सदस्य थे। अपने समय के प्रसिद्ध बंगाली ईश्वरचन्द्र शर्मा (जो ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम से विख्यात हैं) सुत्तशरा घोषाल, रामनाथ टैगोर, जयकिशन मुखर्जी एवं दिगम्बर मित्तल उस समिति के सदस्य थे। तिरुपति का मंदिर इस कदाचार का अकल्पनीय स्थल था। बहुत चालाकी से इसे धर्म की चादर से ढँका गया था। विवाहिता औरतें, जिन्हें बच्चा होने में विलम्ब होता था, वे मंदिर के लोभी पुरोहितों की शिकार आसानी से हो जाया करती थीं। इन नवयुवतियों की भगवान वेंकटेश्वर में अटूट श्रद्धा का नाजायज शारीरिक फायदा मंदिर के पुजारी उठाते थे। इस सम्बन्ध में डुबॉय के अनुभव पर ध्यान देना समीचीन होगा। भारत में कई मंदिरों में पत्थर की दीवारों पर नर एवं नारी की रति-क्रिया दर्शाया जाना आश्चर्य की बात नहीं है, वरन् यह हिन्दुओं की उसी संस्कृति का एक हिस्सा है जिस पर वे गर्व करते हैं। समाज के ऊपर से धर्म के लौह आवरण को यदि नहीं हटाया गया तो यह आने वाले वर्षों में भी भारत की प्रगति को हजारों वर्ष पीढे ढकेलता रहेगा।

डुबॉय ने भी दक्षिण भारत के नामधार ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित धार्मिक कुकृत्यों का वर्णन किया है। इन धार्मिक कुकृत्यों में धार्मिक अनुष्ठान के नाम पर वर्जनामुक्त यौनाचार प्रचलित था, जिसमें ब्राह्मण से लेकर अतिशूद्र श्रेणी की औरतें भी भाग लेती थीं। इस प्रकार के धार्मिक उत्सवों द्वारा जिस गन्दगी को फैलाया जा रहा था, उसका वर्णन करना भी शब्दों से बाहर है। संभवतः यह इस स्थिति को स्पष्ट करता है कि क्यों राजे-रजवाड़े दैविक

कृत्यों के नाम पर इस प्रकार के घृणित उत्सव आयोजित करते थे। देवदासी संस्था के माध्यम से वर्तमान में औरतों के शोषण ने जातीय चरित्र अख्तियार कर लिया है। रूसी विद्वान ई-एस- यूरलोवा के अनुसार, फ्देवदासियाँ, जो नृत्यांगना के परिष्कृत नाम से जानी जाती हैं, कतिपय अछूत जाति के लोगों के द्वारा मंदिर में लाई जाती थीं और वे मंदिर के पुजारी की सम्पत्ति मानी जाती थीं। देवदासी की संतान को भगवान की संतान के नाम से पुकारा जाता था।य् इन्हीं औरतों की संतान को 'हरिजन' कहा जाता था, क्योंकि उनकी शादी मंदिर के देवता से हुई रहती थी।

फ्भारत में नारी की स्थिति के सम्बन्ध में अपना मंतव्य देते हुए यूरलोवा ने लिखा है कि मंदिर में वेश्यावृत्ति आज भी आंध्र प्रदेश, उड़ीसा एवं तमिलनाडु में विद्यमान है। उत्तरप्रदेश में भी जहाँ देवदासी की संस्था नहीं थी, बज्जी जाति की औरतें, जिनकी संख्या 1000 से अधिक थी, मंदिरों में वेश्यावृत्ति के द्वारा अपना पालन-पोषण करती थीं। मंदिर की दासियों का परिवार भूमिहीन होता था। इनमें से 75 प्रतिशत सूदखोरों की बंधुआ मजदूर हुआ करती थीं एवं बेची जाती थीं।य्

ऐसी स्थिति में क्या किसी व्यक्ति को उस प्रथा पर गर्व होना चाहिए, जो कुछेक लोगों की दूसरे लोगों के शोषण पर ही स्थापित होती है एवं पनपती है? उदाहरणस्वरूप हम उस रखैल प्रथा का जिक्र कर सकते हैं जो उड़ीसा में इस शताब्दी के प्रारंभिक दिनों तक राजघरानों तथा जमींदारियों में प्रचलित थी। अविवाहित लड़कियाँ दूल्हे को बतौर दहेज में दी जाती थीं। इनकी संख्या की सीमा निर्धारित नहीं थी। जितनी अधिक संख्या में ये अविवाहित लड़कियाँ दहेज में दी जाती थीं, उतना ही सामाजिक स्थान दूल्हे का ऊँचा माना जाता था। जॉन बीम्स, आई-सी-एस- अपने 'बंगाल सिविलियन के संस्मरण' के लिए विख्यात हैं। उन्होंने पुरी की तीर्थयात्र के अन्धकारमय पहलुओं का सटीक वर्णन किया है। बीम्स ने, जो बालासोर, कटक, पूर्णिया, चम्पारण एवं चटगाँव के कलक्टर रह चुके थे, लिखा है कि - फ्ब्राह्मणों का एक वर्ग जगन्नाथपुरी के मंदिर से संलग्न है। इन्हें पंडा कहा जाता है। ये पूरे भारत का भ्रमण करते हैं और जगन्नाथपुरी के तीर्थाटन की महिमा बखान कर लोगों को पुरी भ्रमण के लिए उत्प्रेरित करते हैं। वर्तमान तीर्थाटन की रुचि में "ास को देखते हुए इस कार्य को इन पंडों के द्वारा किया जाता है जो औरतों को लाने में काफी सफल होते हैं। यह एक सामान्य परिदृश्य रहता था कि एक शक्तिशाली पंडा सड़क से जा रहा है और उसके पीछे-पीछे गरीब बंगाली औरतें जा रही हैं। औरतों के वस्त्रदि एक काठ के बक्से में माथे पर है जबकि सामान्य पंडे का राजसी वस्त्र उसके कन्धे पर। रात वे किसी चट्टी अथवा लॉज में व्यतीत करते थे, जो सड़क के किनारे उपलब्ध रहता था। यहाँ पर पंडा का राजसी ठाठ रहता था जहाँ बंगाली औरतें उसका खाना पकाती थीं, उसे खिलाती थीं और कभी-कभार उसकी शारीरिक इच्छा की पूर्ति भी करती थीं।

जोगिन प्रथा का, जो आज भी दक्षिणी राज्यों में विद्यमान है, का वर्णन इस प्रसंग में आवश्यक है। आंध्र प्रदेश के निजामाबाद जिले में अनुसूचित जाति की जोगिनों की संख्या 10,000 थी। इन अभागी लड़कियों की शादी ग्रामदेवता के साथ सुखाड़ एवं महामारी जैसी विपदाओं से बचने के उद्देश्य से इनके माता-पिता कर देते हैं। गाँव की उच्च जाति के जमीन्दारों एवं धनी लोगों के द्वारा, जिन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु इस दैविक शादी की प्रथा को

आरम्भ किया था, इन औरतों का शारीरिक शोषण किया जाता है। सबसे पहले वे इन लड़कियों में नशे की आदतें डालते हैं और बाद में उनका यौन-शोषण करते हैं। देवदासी की प्रथा आजकल विशेष रूप से आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और उड़ीसा में देखने को मिलती है। बासवी, मथम्मा, थायम्मा, पार्वती, जोगिन एवं इसी तरह के अन्य नामों से जानी जाने वाली इन औरतों की स्थिति देवदासियों से भी बदतर है, क्योंकि देवदासियाँ मन्दिर में रहती हैं जबकि जोगिनें झुग्गी-झोपड़ी में रहती हैं और जमींदार उनका उपभोग करने वहीं जाते हैं। इससे उत्पन्न संतान की जवाबदेही जमींदार नहीं लेते हैं। यदि लड़की हुई तो उसके समक्ष जोगिन बनने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता है, जिनकी स्थिति बंधुआ मजदूर से बेहतर नहीं होती है। यह 'स्वीकृत वेश्यावृत्ति' माला एवं माडिंग जाति (अनुसूचित जाति) के बीच लम्बे अरसे से विद्यमान है। दक्षिण भारत में मरयम्मा, हुलिंगम्मा, पोलेरम्मा, मैसम्मा और येल्लमा लोकप्रिय देवियों के नाम हैं।

व्यभिचारी स्त्री से निबटने के लिये मराठों में प्रचलित रीति के बारे में एन्थोवन ने लिखा है - फ्कोंकण क्षेत्र में भाविन नाम की स्त्रियों का एक वर्ग है जिन्हें देवता के कटार से ब्याहा जाता है। उन्हें देवयोशिता भी कहा जाता है जिसका अर्थ होता है - देवता को अर्पित वेश्याएँ। वे जिस जाति की होती हैं उस जाति का नाम भाविन के साथ बरकरार रखती हैं मसलन, मराठी भाविन, भंडारी भाविन इत्यादि। स्त्री यदि विवाहिता होती है तो अर्पण के बाद उसका अपने पति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह आजाद हो जाती है। िववाह के बन्धन में बँधने की इच्छा नहीं रखने वाली इनकी बेटियाँ माँ के पेशे को ही अपनाती हैं--- वैसे तो ये मन्दिर में सेविका का काम करती हैं लेकिन इनका वास्तविक पेशा लोगों का मनोरंजन (वेश्यावृत्ति) ही है। इसके लिये इन्हें लोग घृणा या नीच निगाहों ने नहीं देखते।

यदि उत्तर और दक्षिण भारत के बीच देवदासी-प्रथा के संदर्भ में मुख्य अंतर पर गौर किया जाए तो कुछ स्पष्ट अंतर दिखाई देते हैं। दक्षिण भारत में बेटी को परिवार की समृद्धि का ड्डोत माना जाता है, जबकि उत्तर भारत में स्थिति इसके विपरीत है। लड़की वयःसन्धि की अवस्था में पहुँचने पर दक्षिण में खुशियाँ मनाई जाती है, जबकि उत्तर में ऐसा नहीं है। वास्तव में उत्तर और दक्षिण के बीच इस फर्क का कारण दक्षिण के मातृवंशीय व्यवस्था है, जहाँ लड़कियाँ नजदीकी या परिचित परिवारों में ब्याही जाती हैं। बल्कि, अमूमन क्रॉस-कजिन शादियाँ ही होती हैं। जबकि उत्तर में लड़कियाँ दूर के अजनबी परिवारों में ब्याही जाती हैं। इसके साथ ही, उत्तर के बरक्स दक्षिण में बेटियों के जन्म का स्वागत होता है। दक्षिण में स्त्रियाँ कुँवारी और दुल्हन दोनों ही रूपों में प्रजनन की क्षमता धारण की हुई मानी जाती है।

यद्यपि कर्नाटक की सरकार ने देवदासी प्रथा को 1982 में ही प्रतिबंधित कर दिया है, फिर भी यह कुप्रथा, आज भी उत्तरी कर्नाटक में बेलगाँव जिले के सौदत्ती (जो धारवाड़ के करीब है) एवं शिमोगा जिला के चन्द्र गुट्टी में खुल्लमखुल्ला विद्यमान है। प्रतिवर्ष प्रथम पूर्णिमा की रात में अनेक अबोध लड़कियाँ देवदासी-प्रथा में फँसाई जाती हैं। जब से प्रतिबंध लगा है, धर्म के स्वघोषित रखवाले प्रत्येक माह में पूर्णिमा की रात में एक या अधिक लड़की को इसा संस्कार में दीक्षित कराते हैं और देवदासी बनाते हैं। सौदत्ती में बसन्त की प्रथम पूर्णिमा के दिन मुख्य त्योहार

मनाया जाता है। चन्द्रगुट्टी में इसी समय निर्वस्त्र होकर पूजा कराने की रस्म पूरी होती है जिससे कि जो जवान हो चुकी हैं, उन्हें बेचा जा सके। यह गतिविधि सप्ताह के अन्त में चन्द्रगुट्टी के यलम्मा मंदिर में किया जाता है।

भारतीय इतिहास-लेखन में अछूतों के प्रति उदासीनता का आलम रहा है। खासकर, अछूत स्त्रियों की अदृश्यता इसकी संकीर्णता को जाहिर करता है। जाति के आधार पर विभाजित समाज में इतिहास के विश्लेषणात्मक और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की अनेक चुनौतियाँ हैं। अछूत, वेश्याएँ और आदिवासी इतिहास के आभिजात्य दायरे से बाहर धकेल दिये गये हैं। यदि उन्हें कहीं जगह दी भी गयी तो संदिग्ध एवं तुच्छ के रूप में ही। राष्ट्रवादी और नव-मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उनकी गतिविधियों या हलचलों को 'विभाजनकारी' व 'संकीर्ण' मानते हुए वहीं छिट-पुट उल्लेख किया है, जहाँ 'राष्ट्रीय' आन्दोलन में वे सामान्य जन का हिस्सा-से लगते हों। भारतीय औपनिवेशिक अवधि के बौद्धक और सांस्कृतिक इतिहास के लिए स्त्री-मुक्ति या सुधार का मसला प्राथमिकता पर रहा और जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण विकसित हुआ वह ऊँची जाति की स्त्री पर केन्द्रित रहा। यहाँ मेरा मकसद दृढ़ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की शिकार स्त्री पर विचार-विमर्श किए जाने को कम करके आँकना नहीं है। यहाँ मेरा अभिप्राय यह कहने का है कि इतिहास लेखन में यौनता को महज अभिजात्य दायरे में सीमित कर दिया गया। पितृसत्ता का कोई एक रूप नहीं है बल्कि यह भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न रूपों में संस्थानिकृत है। इस बात को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करने में हमें उन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की समझ हो पाएगी जो पितृसत्ता को विशेष रूप देती है। इस संदर्भ में ऊँची जातियों और अछूतों इन दोनों की भिन्न सामाजिक संरचना का ख्याल रखते हुए इसमें स्त्री की स्थिति का अध्ययन किया जा सकता है। इससे भारतीय स्त्री को लेकर गढ़ा गया मिथक टूटेगा जिसके तहत यह माना जाता है कि जाति, धर्म, संस्कृति आदि जैसी विभाजक रेखाओं से बँटी स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक वर्चस्व के समक्ष साझे हितों से जुड़े होने के कारण एक ही कोटि के तहत रखी जा सकती हैं। यहाँ इस बात का उद्घाटन होना जरूरी है कि भारतीय समाज-व्यवस्था की कार्यप्रणाली का तर्क न केवल स्त्री-पुरुष के बीच विभाजन पैदा करता है बल्कि एक समूह की स्त्री के ऊपर दूसरे समूह की स्त्री के आधिपत्य के लिए अनुकूल स्थिति भी उत्पन्न करता है।

1980 तक आते-आते मार्क्सवादी नारिवादियों को यह समझ में आने लगा कि कि पितृसत्ता पूँजीवाद से अभिन्न तौर पर जुड़े होने के बावजूद इससे पहले से ही विद्यमान रही है। ऐसे में, स्त्री-पराधीनता की सही समझ विकसित करने के लिये इसे पूँजीवाद से अलग करके इसके ''विशिष्ट ऐतिहासिक चरणों' के रेखांकन की जरूरत महसूस की जाने लगी। वहीं, रैडिकल और मुख्यधारा की नारीवादी मान्यताओं और विचार-श्रेणियों पर अश्वेत नारीवादियों द्वारा सवाल उठाये जाने से भी विश्लेषण के नजरिए का दायरा विस्तृत हुआ। उन्होंने 'वर्ग, जेंडर और नस्ल के बीच के अन्तःर्सम्बन्धों' को समझने की जरूरत पर ध्यान केन्द्रित किया।

पितृसत्ता, विजय और वर्चस्व के मिजाजोनुकूल ठहरती है। वर्चस्व चाहे जाति आधारित हो, उपनिवेशवाद के रूप में हो या पूँजीवाद के रूप में - वर्चस्व प्राप्त तबका न केवल स्त्री-यौनता पर दृढ़ नियन्त्रण रखता है बल्कि इस क्रम में पराजितों या पराधीनों की यौनता के कायदों का निर्धारण भी करता है। देश-भर में कहीं भी सामुदायिक या

साम्प्रदायिक हिंसा में कमजोर पक्ष की स्त्रियों का यौन-हिंसा का शिकार होना अथवा भूमिपतियों या जमींदारों का भूमिहीन श्रमिकों की स्त्रियों के साथ यौन-हिंसा की बढ़ती घटनाएँ इसका स्पष्ट मिसाल हैं।

वर्ष 1982 में कर्नाटक सरकार द्वारा देवदासी प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया है और आंध्रप्रदेश में 1988 में देवदासी अधिनियम के तहत इस प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। इसके बावजूद यह प्रथा कई वर्षों से विशेषकर कर्नाटक, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश में आज भी व्याप्त है। अभी हाल ही में 13 फरवरी, 2014 को केरल में देवदासी के समर्पण की गतिविधियाँ हुई, जिसके उपरान्त केरल आधारित गैर-सरकारी संगठन एस-एल- फाउण्डेशन ने वर्ष 2014 में सर्वोच्च न्यायालय में जनहित याचिका दायर की, जिसका संज्ञान लेते हुए 12 फरवरी, 2016 को सर्वोच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों ने कलिफुल्ला और बॉब्दे की अदालत ने देवदासी-प्रथा का खंडन करते हुए इसे अमानवीय करार दिया है और धार्मिक आस्था की आड़ में हो रहे इस अनैतिक कार्य को बन्द किए जाने का निर्देश केन्द्र सरकार को जारी किया है। यहाँ पर यह प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है कि - धार्मिक कर्मकाण्ड की आड़ में स्त्री-अस्मिता और गरिमा को आज भी खण्डित किया जा रहा है। यहाँ पर यह भी देखना जरूरी होगा कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश के पश्चात् राज्य सरकारें और केन्द्र सरकार धर्म के नाम पर हो रही इस कुप्रथा को कब तक पूर्ण रूप से समाप्त कर पाते हैं?